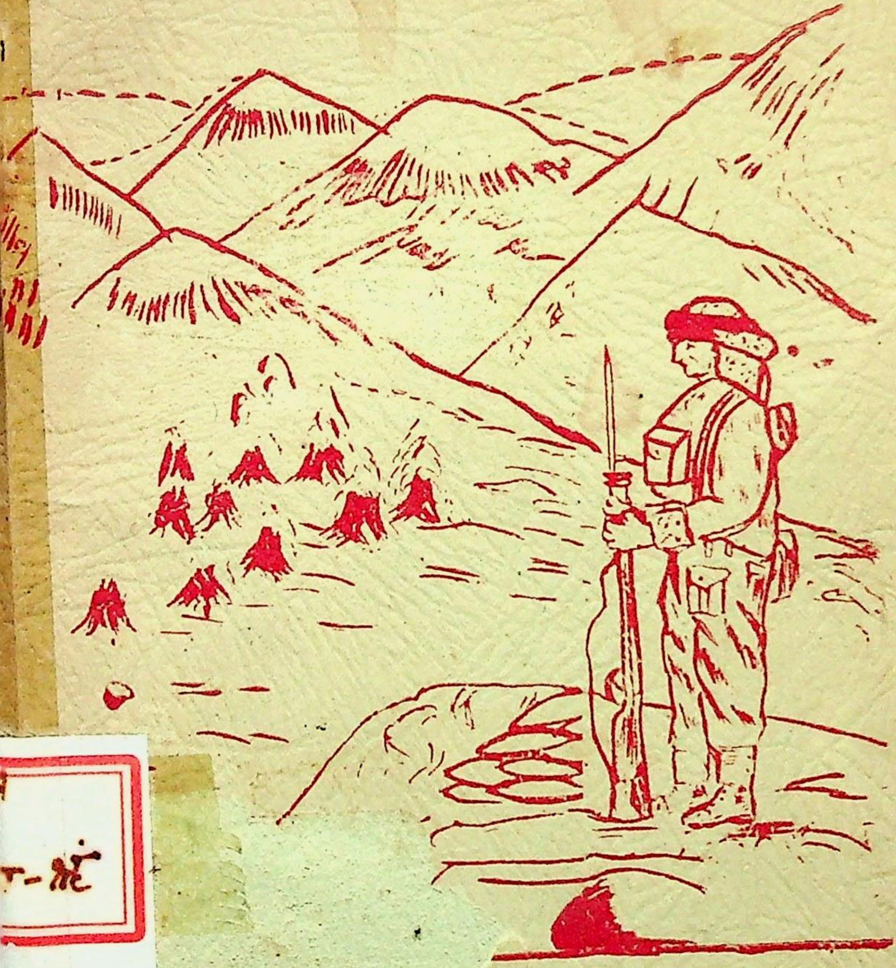
शृं ग ना द्



चक्रवर्ती

१-१-९५

शृंग नाद

चक्रवर्ती

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे

★

दक्षिणायन

९२-ए, डाल्टन रोड, बोलाराम, -आन्ध्र प्रदेश

प्रकाशक :
भारती चक्रवर्ती
दक्षिणायन,
देवकुञ्ज, ९२–ए; डावटन रोड,
बोलारम (आंध्र प्रदेश)

प्रथमावृत्ति—१०००

कार्तिक, १८८५ शक संवत

मूल्य १=२५

आवरण चित्र

एस. सुब्रह्मण्यम

मुद्रक :
हिन्दी प्रेस
नामपल्ली स्टेशन रोड,
हैदराबाद (आ. प्र.)

एक सत्य !

युगों से भारतीय मनीषी का परिवर्तन शील प्रकृति के साथ जो सहजात सम्बन्ध रहा, वह इस विराट सृष्टि के आध्यात्मिक विकास की एक ऐसी रहस्यमयी अन्तर्कथा है, जिसकी सहज कल्पना नहीं की जा सकती। इतिहास के आरम्भ से दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध ऐसा रहा कि संश्लिष्ट दृष्टि से देखने पर, उनके आदान, प्रदान में अविच्छिन्न तारतम्यता दृष्टिगोचर होती है। द्रष्टा मानव की अपनी अनन्यतम-वृत्ति-वीचियाँ बहु-रूपा प्रकृति के अजस्त्र सौन्दर्य स्रोत में इस तरह प्रवहमान हो गई कि दोनों को पृथक धरातल पर परिलक्षित करना असम्भव है। किन्तु-उन दोनों के अक्षुण्ण तादात्म्य के परिवेश में, उसकी चेतन और रागात्मक परिभूमि पर अंकित-अनुभूत प्रकृति-सौन्दर्य के बोध की परिकल्पना अवश्य की जा सकती है।

सत्य की खोज में रहस्य-द्रष्टा मानव ने प्रकृति के सौन्दर्य-स्रोत में जब अपनी तपःपूत जीवन-धारा को अविराम गति से स्रवित होने दिया, तब उस सत्य-सौन्दर्य की सामंजस्य-धारा के दोनों कगारों पर धीरे-धीरे काव्य, दर्शन, न्याय, ज्ञान-विज्ञान, व्याकरण आदि तीर्थों का सृजन हुआ। उन्हीं तत्व-तीर्थों के कोलाहलपूर्ण सुरम्य तटों पर स्नात, दिन प्रतिदिन ज्ञान-प्रफुल्लित जन-जीवन ज्योति-सोपान पर चरण बढ़ाता रहा। वह हमारे अध्यात्म-जीवन का चिर उज्ज्वल पृष्ठ है। ऋत में अनन्य आस्था रख कर, अनन्त काल से जो भारतीय-चेतना, प्रकृति के साहचर्य एवं सान्निध्य के आलोक में स्थूल-सूक्ष्म, खंड-अखंड, जड़-चेतन, मूर्त्त-अमूर्त्त की अनुभूति से प्रबुद्ध, जिस विशेष जीवन दर्शन और सनातन-धर्म के सृजन में योग दे सकी, उसके लिये वह मूलतः भारतीय प्रकृति की ही ऋणी है।

अस्तु, भारतीय ऋषियों ने स्थूल सत्य में अन्तर्निहित चिरन्तन सौन्दर्य को रागात्मिका वृत्ति के अवलम्ब पर जब ग्राह्य किया, तब सहज स्वाभाविकता से उनकी स्वानुभूति प्रकृति के खंड-विशेष से भी अपना अक्षुण्ण सम्बन्ध बनाने लगी। जड़ बाह्य चेतन-अन्तराल से एकरस होकर रागात्मक अनुभूति में इस तरह परिवर्तित हो गया कि भौगोलिक सीमाओं की मान्यता का कोई महत्व शेष नहीं रहा। उनके चेतन-अन्तराल में अनुभूत सत्य उसके कल्पना-वैभव का मूलाधार बन गया। उसी में उन्हें जन-जीवन का अक्षय-सौंदर्य दृष्टिगत हुआ। इसलिये उन वैदिक ऋषियों ने भारत की हिम-मंडित गिरि-मालाओं, व नद-नदियों को भारतीय जन-जीवन की अध्यात्मिक और धार्मिक पृष्ठ भूमि से अविच्छिन्न पावनता का प्रतीक ही नहीं वरन् सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का तीर्थ-स्थल माना है। बाह्य-प्रकृति केवल रूप-समष्टि की परिधि में परिबद्ध नहीं, वरन् दिव्यता प्रदान करने वाली अनन्य शक्ति-शालिनी के रूप में प्रतिष्ठित की गई है।

इदमापः प्रवहत यत्किंच दुरितं मयि।
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम्।[१]

भू खंड विशेष के रूप-समष्टि और व्यापार-योजना में अन्तर्निहित अव्यक्त चेतन से तादात्म्य कर, ऋषियों ने लोक-जीवन की मंगल-भावना के निमित्त उसीको सहज पीठिका के रूप में प्रदान किया था। इसीलिये अपनी धरती से जिस सीमा तक हमारी चेतना सौन्दर्योपासना करती है, उतनी ही प्रकृति विशेष के साथ हमारी आत्मीयता की तीव्र भावना का परिचय भी मिलता है।

---

(१) ऋग्वेद १०-९-८

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वती शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया
तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे ![1]

हिमाद्रि और उसी के अन्तराल से स्रवित नदियों के सौंदर्य समष्टि से भारतीय आध्यात्मिक और दार्शनिक जीवन का ऐसा ग्रन्थियन्धन हो गया कि मान्य-अमान्य राजनैतिक और भौगोलिक सीमाओं की अपेक्षा भारतीय लोक-हृदय की अक्षुण्ण आस्थाओं का अपना महत्व विशेष हो गया। अन्यथा हिमालय का और उससे स्रवित स्रोतस्विनियों का वैदिक एवं लौकिक साहित्य में कालसिद्ध आत्मीयता के साथ वर्ण्य-वस्तु बन सकने की सम्भावना कम होती।

उपह्वरे गिरीणां सङ्गथे च नदीनाम
धिया विप्रो अजायत।[2]

हिमाद्रि और इन्द्र को पर्याय मान कर, उन वैदिक ऋषियों ने विशुद्ध चित्त एवं प्रबुद्धता की जो कामना की थी, वह उसी आत्मीयता की भावना के आधार पर अवलम्ब थी:

शिशीतमिन्द्र पर्वता युवं नस्तन्नो
विश्वे वरिवस्यन्तु देवाः।[3]

पर्वत जड़-प्रकृति मात्र नहीं, उनके लिये देव-तुल्य चेतन पुंज है, अन्यथा लोक-जीवन के पोषण के लिये पर्वतों से उन्होंने अन्न की अपेक्षा नहीं की होती!

तन्नोऽहिर्बुध्न्यो अद्भिरर्कैस्तत्पर्वतस्तत्सविता चनोधात्।[4]

इतना ही नहीं, जन-जीवन-संरक्षण के निमित्त इन्द्र एवं पर्वतराज से, जो युद्धों में सदा अजेय अग्रणी रहते हैं, अपने अमोघ वज्र से अरि-दमन की प्रार्थना कर, उन ऋषियों ने उन्हें दिव्य प्रतिरक्षकों के रूप में स्वीकृत किया!

---

(१) ऋग्वेद ८-६-२८ (२) ऋग्वेद १०-७५ (३) ऋग्वेद १-१२२-३
(४) ऋग्वेद ६-४९-१४

युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः
पृतन्यादप तंतमिद्धतं वज्रेण तंतमिद्धतम् ।[1]

यदि हिमाद्रि भारतीय लोक-जीवन की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि नहीं होता, तो किस आस्था से वैदिक ऋषि असत व अमंगल के विनाश के निमित पावन हिमाद्रि की अभ्यर्थना करते ?

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि ।
यतूंश्च सर्वाञ्जम्भयत्सर्वाश्च यातुधान्यः ।[2]

यह सत्य है कि कोई विशेष प्रादेशिक भूखंड किसी साहित्य की वर्ण्य-वस्तु बन गया तो उस साहित्यकार के देश का वह अंश नहीं बन जाता। किन्तु युगों से परम्परागत हमारे वैदिक और लौकिक साहित्य में जिस आस्था से हिमाद्रि वर्णित है उससे यह स्पष्ट है कि वह भारतीय आध्यात्मिक और सांस्कृतिक जीवन का मूलाधार है, केवल चिरन्तन काल से भौगोलिक सीमा के रूप में प्रतिष्ठ नहीं रहा !

साहित्यकार राजनीतिक आग्रहों से स्वतंत्र, कूटनीति के परिवेश से मुक्त, धरती की आत्मा का गायक होता है। अपनी धरती से उसकी आत्मीयता का उत्तराधिकार उसे सनातन संस्कृति से मिलता है। अस्तु, सनातन संस्कृति और परम्परागत साहित्य में हिमाद्रि के प्रति जिस आत्मीयता की अक्षुण्ण भावना मिलती है, उससे स्वयं सिद्ध है कि हिमाद्रि भारत का अविभाज्य अंग है, विश्व भर की कूटनीति के कोलाहल में सहस्र कंठों का विरोध उठ सकता है किन्तु कालसिद्ध एवं इतिहास साक्ष्य तथ्य की उपेक्षा चेतनाशील साहित्यकार के लिए सम्भाव्य नहीं है।

विजय दशमी
५ कार्तिक, १८८५ शक संवत

—डॉ. चक्रवर्ती

---

१) ऋग्वेद १-१३२-६ (२) अथर्व वेद ४-९९

हिम सीमान्त के प्रहरी !

तुम्हारे बलिदान उत्सर्गों
की होगी अमर कहानी
जो आहुति दी तुमने अब तक
हिम-शृंगों पर अभिमानी !

मातृभूमि के अमर पूत तुम
प्रहरी प्रचण्ड प्रवीर हो
रिपु-दल नृशंस दलने अब तुम
तुषार-पथ पर जगे रहो !

चिर ज्वलन्त बाहु-बन्धनों में, तुम बाँध अक्षय कोष लो !
फिर महाप्रलय वात-चक्र से, तुम वज्र-दण्ड लिए चलो !

जिन पीत वर्णी दस्युओं से
है क्रान्त हिम विजन अपना
कर खंडित दो घन-गर्ज़न से
तुम दुरन्त दुर्मद सपना !

चिर उज्ज्वल उर्मिल श्रृंगों पर, अमर अग्नि-खण्ड से जलो
भैरव-भयंकर हिमवात से, तुम मरण-चक्र लिए चलो !

● ●

हिम-सीमा के नव प्रहरी तुम
समर-धीर दुर्द्धर्ष पुरुष,
किस यौवन में था आलोड़ित
यह अग्निमय शौर्य अकलुष ?

उठो शक्तिशाली बन निर्मम, प्रलय प्रभंजन से विचरो !
ज्वाल-साँस, झंझा खड़ग लिए, तुम प्रतिपल सिंहनाद करो !

देव दुर्लभ नव शक्ति उज्ज्वल
जिसमें वह महिमा छाई
किसके चरण चूमती अब तक
थी गौरव-गरिमा आई ?

हिम निसर्ग पावन मंदिर में, प्राणों से आलोक भरो
ज्योतिर्मय संकल्पों का अब, उठो तुम शंखनाद करो !

● ●

हिमाद्रि शृंग पर नव वीर तुम
उठो रुद्र से एक बार
है खड़ी समुद्वेलित पीछे,
जनतंत्र की शक्ति अपार !

देव-भूमि के अमर-पूत तुम, मातृ-स्तन्य की महिमा हो
अब चिर मंगल प्रलयंकर की, उठो तुम मूर्त प्रतिमा हो !

जन-जन के त्रिनेत्र उन्मीलित
होगा असुरों का संहार
अतिक्रमण करके आये हैं
जो स्वयं सीमा के पार !

रे स्वतंत्रता के वीर पुत्र, यौवन की तुम गरिमा हो
जिन बाहुओं में वज्र निर्मम, उर में मरण-मधुरिमा हो।

हे अक्षय निर्भय समर वीर
आलोक दिव्य अखण्ड हो
तुम शक्ति में कराल काल से
खर प्रलय-दाह प्रचण्ड हो !

प्राणों में तुम प्रालेय लिये, विपत्तियों से जुझे रहो
वह्नि से नव तुषार-पंथ पर, तुम जगे रहो, जगे रहो !

अब कोटि-कोटि आर्त कंठ से
मातृ-भूमि सुन पुकारती
"दुर्दान्त रिपु से कर मुक्त दो
हे दृढ़ संकल्प—सारथी।"

उस नील निर्जन हिमक्षेत्र में, तुम अजर अमर डटे रहो
फिर किये शृंगनाद भैरवी, तुम जगे रहो, जगे रहो।

हिम-शृंगों से आकर्षित हो
अविरल श्रान्त पथिक आये
उस सुषमा पर कितने बर्बर
शक-हूणों के दृग छाये !

उस तुषार–कानन पर पद क्या, पड़ने न पलक भी देना
वह हिमनिधि अनमोल हमारी, करने न परस भी देना !

जाने कब से रहा हिमालय
संस्कृति का अचल–शृंगार
होता आया बिम्बित उसमें
तत्व दर्शन का संसार !

आध्यात्म जगत वह चिर उज्ज्वल, तुम अकलुष रहने देना
उस असीम गिरि-गौरव को तुम, चिर पावन रहने देना !

रे हिमगिरि के दुर्दम्य पथिक
चिर विरक्त, तुम निर्विकार
झंझाओं में चिर अटल अडिग
हिम में करते रण-विहार

धरती कांपे, अम्बर दहले, रण-गर्जन घन गहरा दो।
उन शत संगरों की वह कथा, फिर अतीत के दुहरा दो!

याद करती रण-भीत धरणी
अमर तुम्हारे मृत्यु-गान
वे रणोन्माद भैरव प्रचण्ड,
औ' निच्छल अभय-दान!

तुम उत्तुङ्ग शैल-शृंगों पर, विजय पताका फहरा दो!
चिर गहन निस्वन घाटियों में, उठो विजय-ध्वनि लहरा दो!

● ●

शत-शृंग-थाल में हिम चन्दन,
झंझा-अगरू, अरुण कुंकुम,
कुहर-धूम, स्वर्णिम-कर प्रदीप,
सित असित नीरद दल कुसुम

करती ऊषा मृदु अभिनन्दन, देख तुम्हें वीर वेष में!
गाती दिग्वधुयें चिर मंगल, उस निर्मम हिम-प्रदेश में।

अभिनन्दन में अब सविनय
पद में नग उत्तुंग प्रणत
बरसा कर नव आलोक दिव्य
है नीलाम्बर भी अवनत

बना दिया इतिहास समुज्ज्वल, तुमने शांति-निर्देश में
देख रहा विस्मित युग तुमको, उठो अमर-व्रती वेश में!

जल उठती रौरव अग्नि सदा
तुम्हारे दृग उन्मेष में
चलने शत शतघ्नियाँ लगती
चल-पलक दल अनिमेष में।

हे रुद्र प्रलयंकर अब जाग, जाग प्रचण्ड अभिषेक में।
है देख रहा युग-विस्मय से, नव हर्ष के अतिरेक में।

होता बंकिम भ्रू से भीषण
तमोरात्रि में परिवर्त्तन
जल थल अम्बर में आलोड़न
हाहाकार, अनल वर्षण

हे भैरव भयंकर अब जाग, जाग रे एक अनेक में
सब जड़-चेतन स्पन्दित तुम में, तुम चिर सत्य प्रत्येक में!

शांति सुरसरि, प्रतिशोध--भुजंग,
शौर्य--शशि, संकल्प-त्रिशूल
रुद्र तुम्हारा यह अमर रूप
त्रिनेत्र मीलित क्रोध-मूल।

हे विश्व विजयी हिम तपस्वी, तुम प्रचण्ड ज्वाल से जलो
भू-अम्बर में महानाश हो, जहाँ प्रलय-वात से चलो।

हिम शिखरों से अब शंख फूँक
कर दो उद्घोष हिमानी
एक बार तुम फिर से पी लो
कालकूट को अभिमानी !

रिपुदल-घन-तमिस्र सीमा पर, तुम तड़ित्त-ज्वाल से जलो
दिग-दिगन्त दहले, उन्मद तुम, जहाँ हुँकृति करते चलो !

झंझाओं का घन श्रृंगनाद
हिम चंडिका की हुंकार
चिर नीरव नील सितांचल में
वीरों का मरण-श्रृङ्गार !

रे पावक-पथ पर चल उज्ज्वल, स्वयं लेकर गौरव-भाग
हिमगिरि के अभिनव उत्सव में, उन्मद खेलो रक्त-फाग !

प्रलयंकर के पद-द्वय चंचल
भैरव स्वर, डमरू करतल
लो तूर्यनाद, तिमिर भयंकर
व्योम – विकम्पित, जल–थल !

जन-तन्त्र की नव महिमामयी, चेतना गई जहाँ जाग
हे दुर्दम्य गाओ अहर्निश, हिम-पथ पर अमर रण-राग

तुम जला हिम वेदिका में दो
रण-यज्ञों की नव-ज्वाला
तारुण्य की आहुति अविराम
अर्पित प्राणों की माला!

रे मनु-पुत्र उठो, पावन तुम, हो हविष तुम्हारा तन मन
धूम-राशि में चिर मंगल हो, अवनी का अभिनव जीवन!

चिर अन्ध-तमस असुरों का हो
ज्योति-शरों से उन्मूलन!
जड़ में लीन जहां मनुजात्मा
तुम करो वहाँ त्रिपुर-दहन!

रे युग-युग से तुमने माना, ऋत को शाश्वत जीवन-धन
नवयुग आज खड़ा विस्मय से, देख तुम्हारा रक्तार्पण!

दुर्दान्त दस्यु रण-राग सबल
त्राण-तृषित भयभीत धरा
चिर उज्ज्वल हिमाद्रि मर्दित
रिपु-चरणों से कलुष-भरा !

अब साम्य-तंत्र से पीत-कलित, नवल प्राची की अरुणिमा
नव तरुण रक्त से धोकर तुम, लौटा दो स्वयं मधुरिमा ।

तुम नव दुर्गा के हस्त प्रखर
सायुध अष्टादश विक्रम
कर दुर्मद कुटिल दर्प-घन पर
ज्योति-खड़्ग प्रहार निर्मम !

हिम-श्रृङ्गों पर वज्रांगों की, छाये चिर गौरव-गरिमा
रे तुम टूटो वज्र–तड़ित्त से, खंडित हो रिपु–घन–प्रतिमा

● ●

प्रजा तंत्र के तुम नव प्रहरी
चिर यशस्वी हिम साहसी
रही कामना सदा तुम्हारी
अमर मृत्यु दिव्य चाह सी !

देख रहे भय संकुल जन-गण, तुम को दुर्गम हिमगिरि पर
है कोटि-कोटि अपलक पलकें, न्योछावर नव साहस पर

मान्य तुम्हें आज शीतलतम
आवास --- कुहर --- पहेलिका
जहाँ विचरते नव नीरद दल
कनक वृत्त में कुहेलिका !

एक कंठ से मंगल गाते, ज्योर्तिमय जय से नभ भर
समुद्वेलित निस्पृह मनुज-मन, जागे तम-राग-दलित कर।

● ●

झूम रही है जहाँ चतुर्दिक
प्राची की छल-दानवता
कुटिल क्रूर करों से भयभीत
अकुलाई है मानवता

फैल रहे तम से महाव्याल, बन गया भू नरक रौरव
फिर दलने, सब दर्पोन्मद फण, जाग पुँजीभूत गौरव !

दुर्मदों के छल-परस बन्धन
है पुकारती हिम-द्रुपदा !
जाग अक्षय अरुण पौरुष
हरने भय संकुल विपदा !

विचरते जहाँ अब भू-लोलुप, दुरन्त दुर्विनीत कौरव
जाग रे अक्षय पाँडव-पंच, करने श्रृंगनाद भैरव !

● ●

पहनाओ अटल गिरिराज को
अरि मुंडों की माल विरल!
और बहाओ हिम चरणों में
तप्त रुधिर अरि का अविरल!

हो उठा प्रज्ज्वलित अम्बर में, हिमगिरि बन ज्वाल-निकेतन
प्रतिशोध-शूल से भेद वहीं, डालो झुलसा रिपु के तन

चिर निस्वन गहन घाटियों में
तुम बढ़ो बन हिम प्रभंजन!
रक्त दृग देख कालानल-सा
भयभीत हो आर्त्त रिपु-जन!

अभिनव अरुण चरण तल नीचे, आलोड़ित हो जड़-चेतन।
उठो संसृति के नव-ज्वाल तुम, द्रुत लिये चलो जय-केतन।

जाग रे जाग अमृत जीवन
जीवन में अक्षय यौवन
यौवन में ज्वाल, ज्वाल में बल
बल में प्रबुद्ध उद्वेलन !

जाग रे पथ-भीति हर उज्ज्वल, तू कर्म निरत आजीवन
नियति-निर्देशित चिर उन्नयन, ज्योतिर्मय हिम आरोहण

जाग भू-प्रसू में नव-चेतन
नव-चेतन में उद्बोधन !
उद्बोधन में जन—प्रलयंकर
प्रलयंकर में नव-नर्त्तन !

जाग हे पुंजीभूत पौरुष, जाग तू अस्थि-दानी बन
जाग रे ऊर्जस्वित तारुण्य, जाग यशस्वी नव-जीवन !

मा

ओ

त्से:

तुं

ग

दस्यु,

साम्य रहे सुरम्य

दस्युता अक्षम्य !

जागेगी

अभी सहस्र गुना

जो रही अनमना

चीन की चेतना !

वह उन्मद

अन्तराल अगम्य !

देखा होगा
तुमने विविध अस्त्र
समर वीर सहस्र

पर क्या
यश-ज्वाल कणों का
दुर्जय तरुणों का
नव दधीचियों का

देखा कभी
अस्थि—दान—अजस्र ?

रे क्यों
दोष दूषित नयन
रहे दक्षिणायन !

देख
अभिनव जीवन गति
जड़ रूढ़ियाँ विगति
चरण--लक्ष्य परिणति

यहाँ तो
सर्वांग उन्नयन !

●

देख
रे उत्कर्ष चरम
जन मन लक्ष्य परम

मान
ताण्डव नहीं भ्रांति
चेतनागत क्रान्ति
हर प्रलय में शान्ति

तुम क्या
जानो ऋतानृतं !

माओ !

न करो आत्म हनन

कलुषित जन गण-मन !

एक बार

लख इतिहास विगत

असंख्य नरपति हत

जयाजय नियति-गत !

दे रोक

भू पर ध्वंस-दलन !

●

आओ !

छल बल साम्यतंत्र

मनुज मन परतंत्र

पंक में

रुकी विमल धारा

कलुषित तट सारा

जीवन गति कारा !

नैया

तेरी तमस–यंत्र !

●

मानता
गम्य   हिमाद्रि   तुंग
माओ   त्सेः   तुंग !

पर   यहाँ
ज्योतिर्मय   जीवन
दुर्गम   जन   गण   मन
अमृत   अक्षय   तन !

उद्वेलित
चेतना   उत्तुंग !

●

माओ

बर्बर रण——प्रमाद

क्रूर-बल अवसाद!

देख

साक्षी विगत काल

क्षय मुकुट, जय-माल

मरण ज्वाल कराल,

निस्वन

सभी दर्प—निनाद!

●

मात्रो

रण–नीति विज्ञता

तम–सी क्षय, विगता

जागी

तामसी दुर्वृत्ति

भस्मासुरी शक्ति

चिर सुप्त अनुरक्ति !

बिसराई

तुमने कृतज्ञता !

●

माओ!

जहाँ जीवन खिन्न

और मनुज विपन्न

कुंठित मन,

जड़ मोह मंत्रणा,

सह रहा यंत्रणा

हर साँस से घृणा

तुम्हारा

नव तंत्र प्रच्छन्न!

●

अगम तेरी
जड़-तृष्णा वारिधि !
आकांक्षित भू—निधि !

अलक्ष्य
किस ओर दौड़ता
तिमिर सी शून्यता !
है क्या तुझे पता !

अकल्पनीय,
तेरी मोह-परिधि !

●

माओ !

नर पुंगव बन कर

किया नृत्य बर्बर

दुहराई

क्यों कथा पुरानी,

नर की मनमानी,

वह चिर नादानी !

अमर

तेरी विकृति भर !

माओ !
पथ-गत अन्ध चरण
नव उन्मद विचरण !

दुहराई
रण-तमस दुर्वृत्ति
दुर्बल अनय-नीति
असंस्कृत जड़-रीति !

कलुषित
कुल-शील आचरण !

माओ !

अगम जड़ पिपासा !

जनम दानवों—सा

हँसते

हनन कर मनुज को

दलन कर बन्धु को

अपनाया किसको ?

उन्मत्त

तू कितना प्यासा ?

आओ
साम्य तेरा विषम
जन-मन में भय-तम !

देख यहाँ
उत्कर्ष समुज्ज्वल,
रूढ़ियाँ गई गल,
तम हर, ज्योति प्रबल !

जनतंत्रीय
नर—सपन मधुरतम !

●

माओ !

जनतंत्रीय पृष्ठ

चेतन आत्मनिष्ठ !

देख

जीवन मृदु अभिनव

समग्र विधान नव !

ज्योति परिधान भव !

आज

मनुज जहाँ प्रतिष्ठ !